सामाजिक न्याय की अवधारणा और स्वरूप

डॉ. धर्मचन्द्र विद्यालंकार

सर्वप्रथम हमें सामाजिक न्याय की परिकल्पना से परिचित होने की आवश्यकता है। वैसे तो इसका स्थूल-सा अर्थ समाज संबंधी न्याय ही है। लेकिन यह आजकल एक समाजशास्त्रीय और राजनीतिशास्त्रीय अवधारणा बन गई है, जिसका अर्थ सामाजिक संस्तरण की समानता से है। सामाजिक न्याय का सिद्धांत यह मानता है कि वर्ण व्यवस्थाबद्ध भारतीय समाज की संरचना पिरामिडिय है, वर्टिकल है। उसको क्षैतिज करने की आवश्यकता है क्योंकि वर्णव्यवस्था जाति-बद्ध समाज में उच्चस्थ वर्ग निम्न एवं पिछड़े वर्गों के कंधों पर आरूढ़ है। भारतीय ब्राह्मणी वर्ण-व्यवस्था की अपनी यही अन्यतम विशेषता है कि उसमें सामाजिक समता के लिए कहीं कोई गुंजाइश या अवकाश ही नहीं है। अपितु यदि यह कहा जाये कि उसका एकमेव आधार ही जन्मजात विषमता है तो अत्युक्ति नहीं होगी।

कहना नहीं होगा कि सामाजिक न्याय की मांग समाज में न केवल आर्थिक समानता की ही मांग है अपितु वह शक्ति संरचना में भी दलित और पिछड़े ब्राह्मणी व्यवस्था के द्वारा शूद्र वर्ण में विक्षिप्त बहुसंख्यक जनगण की सक्रिय सहभागिता का बुलंद अभियान भी है क्योंकि वर्ण-व्यवस्थाबद्ध समाज में सत्ता (राज्य) और संस्कृति (शिक्षा-धर्म) तथा संपत्ति पर उच्च वर्णों का ही स्वामित्व स्वभावतः मान्य रहा है क्योंकि उस व्यवस्था में यही तो सवर्ण (उत्तम जाति वाले) थे जबकि अवर्ण ही शूद्र और अछूत थे।

अतएव वे तो स्वतः ही सत्ता संपत्ति और संस्कृति तथा सम्मान से वंचित ही वंचित रहने थे।

आजकल मोटे रूप से सरकारी सेवाओं में दलित एवं पिछड़े वर्गों के आरक्षण की मांग को ही सामाजिक न्याय से जोड़कर देखा जाता है क्योंकि 1991 में मंडल-कमीशन के क्रियान्वयन और उसके तीव्र विरोध और समर्थन से ही इस अवधारणा की चर्चा समाज में पुनः आरंभ हुई थी, वरना तो यह अवधारणा भारतीय राजनीति में डॉ. राममनोहर लोहिया जी की ही देन है। उन्होंने ही सर्वप्रथम साठ और सत्तर के दशकों में भारतीय राजनीति में इसका स्वरघोष किया था। उनके अनुसार साठ प्रतिशत पिछड़ा वर्ग की हिस्सेदारी राजनीति और सार्वजनिक सेवाओं में अपरिहार्य है क्योंकि इस सबके बिना उनका समुचित समुत्थान संभव ही नहीं है।

कहना नहीं होगा कि सरकारी सेवा समाज में केवल आर्थिक उत्थान का ही साधन नहीं है अपितु वह एक सामाजिक सम्मान और प्रतिष्ठा (हैसियत) की भी सूचक है। ऐसी स्थिति में जिन लोगों की सर्वाधिक हिस्सेदारी जन्मजात योग्यता के सिद्धांत के चलते राज्य-सत्ता में रही, वही वर्ग एवं वर्ण समाज में सम्मानित एवं संपन्न भी रहे। उनके आर्थिक उत्थान के साथ ही साथ उनका सामाजिक सोपान (वर्ण-क्रम) भी स्वतः ही समुन्नत हो गया। उदाहरण के लिए आज, बंगाल, उड़ीसा और उत्तर प्रदेश तथा बिहार के कायस्थों को ले सकते हैं। ब्राह्मणी वर्ण-व्यवस्था ने उन्हें शूद्र कोटि में रखा हुआ था लेकिन वे मुगल काल से अंग्रेजी काल तक तथा अब तक भी सरकारी सेवाओं में बहुलांश सहभागिता पाकर स्वयं को क्षत्रिय और ब्राह्मण के रूप में सम्मानित एवं स्थापित कर चुके हैं।

यही स्थिति आज वैश्य वर्ग के बनियों की भी देख सकते हैं। जिन-जिन प्रदेशों में उन्होंने शिक्षित होकर सरकारी सेवाओं और उद्योग-व्यापार में समुन्नति कर ली है उन्हीं प्रदेशों में वे शूद्र वर्ण (दलित-पिछड़ों) से निकलकर अगड़ों में परिणत होने लगे हैं। जिन प्रदेशों में अभी तक वे इन क्षेत्रों में समुन्नत नहीं हैं वहीं पर उनकी स्थिति अन्य पिछड़ा वर्ग जैसी ही है। उदाहरण के लिए आज बिहार और उड़ीसा के वैश्य-बनियों को आज भी पिछड़ा वर्ग के अंतर्गत आरक्षण की मांग उठाते हुए देख सकते हैं।

लेकिन हमें यह भी नहीं भूलना होगा कि सामाजिक न्याय की मांग इकहरी नहीं है। वह बहुस्तरीय एवं बहु-आयामी है। आर्थिक है तो सामाजिक भी है। वह व्यक्ति के केवल आर्थिक रूपांतरण की ही अपेक्षा नहीं रखती अपितु वह तो उसके सामाजिक संस्तरण और राजनीतिक सबलीकरण और शक्तिकरण की भी सबल समर्थनकारी है। इसीलिए तो डॉ. लोहिया ने अन्य पिछड़े वर्ग के लोगों के लिए सरकारी सार्वजनिक सेवाओं में ही उनके लिए आरक्षण की मांग न उठाते हुए उनके राजनीतिक हिस्सेदारी की भी पुरजोर वकालत की थी और उनके इसी अभियान के आधार पर भारत के उत्तर प्रदेश जैसे विशालतम प्रांत में एक पिछड़े एवं कृषक वर्ग के व्यक्ति चौ. चरण सिंह के नेतृत्व में संविद सरकार का गठन हुआ था। जिसमें सर्वप्रथम मंत्रीमंडल में यादव-गुर्जर और कुर्मी (पटेल) तथा कोयरी जैसे पिछड़े वर्ग के लोगों को सम्मिलित किया गया था। इन वर्गों की राज्यसत्ता में सक्रिय सहभागिता का ही यह परिणाम था कि ये वर्ग (वर्ण) भी अपने नामों के साथ सवर्णों जैसे सम्मानसूचक शब्द चौधरी, राव और पटेल लगाने लगे थे।

हम लोग प्रायः सत्ता से अभिप्राय राज्य-सत्ता का ही लेते हैं जबकि वस्तुतः ऐसा नहीं है। सत्ता से तात्पर्य केवल राज्यसत्ता से नहीं है अपितु वह तो बहुस्तरीय एवं बहुआयामी है। सत्ता केवल राजनीतिक ही नहीं होती वह आर्थिक और सांस्कृतिक तथा सामाजिक भी होती है। वरना क्या कारण है कि आजकल जिन वर्गों (वर्णों) का पिछले हजारों वर्षों से राजसत्ता पर एकाधिकार है वही वर्ग क्यों औरों की तुलना में आज तक भी आर्थिक और सामाजिक (शैक्षणिक) तथा सांस्कृतिक रूप से आगणी है। कारण स्पष्ट है कि उनको अबाध राज्याधिकार से सर्वांगीण विकास के उन्मुक्त अवसर मिले हैं। जबकि दलित एवं पिछड़े वर्गों पर अयोग्यता लादकर उनको विकास के उपयुक्त अवसरों से वंचित ही रखा गया है। इस सबके बावजूद उन वर्गों ने अपने अखंड एवं उन्मुक्त सुविधा भोग को ही अपनी जन्मजात योग्यता एवं प्रतिभा बताकर भारतीय समाज में जाति-व्यवस्था एवं वर्ण-व्यवस्था को स्थापित ही किया है।

कहना नहीं होगा कि योग्यता या प्रतिभा का आधार जन्म अथवा

जाति विशेष नहीं है, जैसा कि ब्राह्मणी वर्ण-व्यवस्था ने जन्मजात योग्यता की दुहाई देकर प्रचारित और प्रसारित किया है। उसका आधार तो अवसर की उपलब्धता ही है। जिन वर्णों की सामंती समाज व्यवस्था में सेवा, शिक्षा और संस्कृति (धर्म) का अबाध अधिकार उपलब्ध था, वही वर्ण स्वतः ही अगड़े यानी सवर्ण बन गये और जिन वर्णों को उनकी जन्मजात जाति के आधार पर अवसरों की समानता से वंचित रखा गया वही वर्ग पिछड़े रह गये। अन्यथा क्या कारण है कि राजस्थान जैसे प्रदेश में जाट जैसी जाति के सर्वाधिक सांसद और विधायक रहते भी उस वर्ग का एक भी व्यक्ति पिछले पचास-साठ वर्षों से एक बार भी मुख्यमंत्री पद को प्राप्त नहीं कर सका है? जबकि अपनी तथाकथित जन्मजात योग्यता के चलते कायस्थ जाति का एक व्यक्ति विधान मंडल में अपनी जाति का अकेला सदस्य होते हुए भी एक नहीं, दो नहीं पूरे चार बार मुख्यमंत्री पद को सुशोभित कर चुका है। स्वयं सामंती व्यवस्था पर काबिज रहने वाले पुरोहित वर्गों के लोग भी उस पिछड़े प्रदेश के अगड़े नायक दशकों तक रहे हैं। वैश्य वर्ग का एक भ्रष्टतम व्यक्ति तो सर्वाधिक सुदीर्घ काल तक सत्ता के शीर्ष पर समासीन रहा है। और तो क्या दलित एवं एक अति पिछड़े वर्ग के व्यक्ति को उसकी जनाधारहीनता के कारण मुख्यमंत्री पद पर आरूढ़ कर दिया गया। लेकिन जो एक सशक्त और सदल वर्ग वहां पर (जाट) (किसानों) का है उसको पुरोहितवादी और पूंजीवादी तथा सामंतवादी तीनों वर्ग मिलकर सत्ता के स्वर्ग से पीछे ही धकेल देते हैं क्योंकि उनके निहित स्वार्थों की सुरक्षा तभी संभव है।

सामाजिक न्याय की मांग को राजनीतिक क्षेत्र में ही क्यों, आप धार्मिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में भी देख सकते हैं। आज क्या कारण है कि कुछ ही वर्गों के लोग सारे पत्र-पत्रिकाओं और आकाशवाणी तथा दूरदर्शन पर एकाधिकार भाव से जमे बैठे हैं। वही लोग सवर्ण नेताओं को तो राष्ट्रीय नेताओं के रूप में प्रचारित करते हैं जबकि दलित एवं पिछड़ी जाति के जन-नायकों को जाति विशेष के नेता मात्र बताकर ही उनको खलनायक बना देते हैं। यह सब सरकारी सेवाओं में वर्ग विशेष के वर्चस्व के चलते ही संभव हो पा रहा है। मानव जीवन के यापन के लिए तीन ही प्रमुख आय स्रोत के आधार हैं—सरकारी सेवा, कृषि-भूमि एवं उद्योग-व्यापार। जन्मजात जाति-व्यवस्था या ब्राह्मणी वर्ण व्यवस्था के चलते आप यह देख सकते है कि उपरोक्त तीनों क्षेत्रों में आज तक 15 प्रतिशत अल्पसंख्यक सवर्णों का ही एकाधिकार है जबकि 85 प्रतिशत पिछड़े एवं दलित वर्गों की हिस्सेदारी धन-धरती और सरकारी सेवाओं में आज तक भी नगण्य है जबकि वही बहुसंख्यक और धरतीपुत्र भी हैं। इस विषय में हम एक तालिका संक्षिप्त प्रस्तुत करना चाहेंगे—

	उद्योग-धंधे	कृषि-भूमि	सरकारी सेवाएं
15 % सवर्ण	97 %	70 %	80 %
85 % अवर्ण	3 %	30 %	20 %

उपर्युक्त तालिका के आलोक में हम यह भली-भांति देख सकते हैं कि जीवन-यापन के मूलभूत आय स्रोतों पर कुछ ही वर्ग और जातियां आज तक भी किस प्रकार से अपना एकक्षत्र आधिपत्य बनाए बैठे हैं जबकि वही लोग अल्पसंख्यक हैं और शारीरिक श्रम से भी बचे हुए हैं। इतना ही नहीं, ऐतिहासिक दृष्टि से भी वही लोग विदेशी और आक्रमणकारी भी रहे हैं। लेकिन आश्चर्य की बात यह है कि आजकल यही वर्ग सर्वाधिक देशभक्त और स्वदेशी तथा स्वामी (प्रभु) है क्योंकि राज्याधिकारी वही हैं। शिक्षक और पुरोहित तो वे परंपरागत रूप से हैं हीं।

जन्मजात योग्यता का तर्क

आजकल सामाजिक न्याय की मांग को दृष्टिविगत करने के लिए प्रायः यह बात उठाई जाती है कि आरक्षण का आधार जाति न होकर जन्मजात योग्यता होनी चाहिए। यह सवर्णों का तर्कजाल है। मंडल कमीशन के क्रियान्वयन के विरोध में इन वर्गों (वर्णों) की यही आपत्तियां थी। लेकिन इन योग्यतावादी (स) वर्णों से यह तो पूछा ही जा सकता है कि आखिर आप लोगों की अखंड योग्यता का रहस्य क्या सहस्रों वर्षों का अबाध एकाधिकार ही नहीं है। सत्ता (राज्य) और संपत्ति का जो अखंड आभोग ये दैवी वर्ग पिछले सहस्रों वर्षों से अजस्र भाव से लेते-लगाते जो चले आ रहे हैं। क्या इनकी इस दैवी योग्यता का रहस्य इनका यह अखंड वर्चस्व ही नहीं है?

वर्णवादी योग्यतावादियों से यह कैफ़ीयत भी मांगी जा सकती है कि क्या वर्ण, एकलव्य और शंबुक की योग्यता में कहीं कोई कमी थी? तदापि उनमें उचित योग्यता रहते हुए भी उन्हें जाति के आधार पर दंडित क्यों किया गया? जिस समाज में निम्न (दलित) और पिछड़े वर्गों का योग्यतार्जन भी अक्षम्य अपराध हो, भला उस समाज में फिर उन वर्गों का व्यक्ति योग्य बनने का दुस्साहस भी क्यों करता। एकलव्य और शंबुक ने यही तो किया था तभी तो उन्हें अंग-भंग और प्राणों से भी हाथ धोने पड़े थे। अब जब यही दलित-पीड़ित और पिछड़े लोग अपने उन्मुक्त विकास के लिए अवसर की समानता का अधिकार (आरक्षण) मांगते हैं तो वही द्रोण और राम उनसे उनकी जन्मजात योग्यता की मांग करते हैं।

जिस वर्णबद्ध समाज में सत्ता संस्कृति (शिक्षा) और सेवा को कुछ वर्गों के लिए प्रतिबंधित कर दिया गया हो सहस्रों वर्षों तक उस विषमतामूलक समाज व्यवस्था में ऐसे शोषित एवं पीड़ित वर्गों को तो समाज की मुख्यधारा में लाने के लिए आरक्षण की वैशाखी की अपरिहार्य आवश्यकता है क्योंकि वे सदियों से विकलांग (अयोग्य) बना दिए गए हैं। अतएव उन्हीं को तो सहारा चाहिए। फिर जिन योग्यतावादी वर्गों अथवा वर्णों ने उन पर सहस्राब्दियों तक निर्योग्यताएं आरोपित की है उनको भी अब उनके लिए कुछ तो स्वार्थ-त्याग करना ही चाहिए। वैसे भी वे तो बड़े ही प्रतिभावान और करुणावतार है क्योंकि सारे ही संत-महात्मा और धर्मावतार तथा साहित्यकार व कलाकार भी उन्हीं सुयोग्य (सवर्णों) से आये है--ऐसी स्थिति में अब तो उन्हें अपने दलित और पिछड़े-वंचित और प्रवंचित भाई-बहनों की प्रगति का पथ प्रशस्त करना ही चाहिए। अन्यथा तो उनकी सारी सद्भावनाएं मगरमच्छी ही होंगी।

किसी भी समतामूलक समाज संरचना में बहुसंख्यक एवं श्रमिक वर्गों का सामाजिक संस्तरण करने के लिए उनके लिए विशेषाधिकारों का प्रावधान अनिवार्य ही नहीं अपितु अपरिहार्य है क्योंकि तभी प्रवंचित एवं उपेक्षित वर्गों को समसतरीय किया जा सकता है। आरक्षण इसी दिशा में एक वैधानिक सोपान है। सामाजिक न्याय की मांग यह भी है कि पिछड़े और दलित वर्गों के जो लोग आर्थिक रूप से संपन्न हो गये है तदापि वे सामाजिक सम्मान और प्रतिष्ठा से वंचित ही है क्योंकि भारतीय समाज मे व्यक्ति की जाति अपरिवर्तनीय ही है। ऐसी स्थिति में सामाजिक न्याय की मांग आर्थिक ही न होकर सामाजिक और सांस्कृतिक भी बन जाती है क्योंकि वर्णबद्ध समाज में सभी जातियों की हैसियत पूर्व निश्चित है अतः अब आवश्यकता क्षैतिज समाज संरचना की है।